दिसंबर १९९८ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

आत्मकथन

बुद्धसहस्सनामावली

प्राक्कथन

मेरा बड़ा सौभाग्य कि मैं ब्रह्मदेश के ऐसे प्रवासी भारतीय परिवार में जन्मा और पला, जो अत्यंत धर्मपरायण था। सारे घर में गोरखपुर गीताप्रेस की भक्तिधारा प्रवाहमान थी। पिताश्री शिव के अनन्य भक्त थे तो माताश्री श्रीकृष्ण की। जीवन के प्रथम दशक में ही मैं नित्य कभी विष्णु सहस्त्रनाम का और कभी गोपाल सहस्त्रनाम का, किसी दिन शिवमहिम्न स्तोत्र का तथा किसी दिन शिवताण्डव स्तोत्र का अथवा कभी-कभी गीता के किसी अध्याय का सस्वर पाठ किया करता था। अच्छा लगता था। इससे भक्ति में पुष्ट होने के साथ-साथ एक अन्य बड़ा लाभ यह हुआ कि संस्कृत भाषा का शुद्ध उच्चारण करना आ गया और उसका थोड़ा-सा सामान्य ज्ञान भी हो गया।

जीवन के दूसरे दशक में मेरे सौभाग्य का संवर्धन हुआ। मैं आर्यसमाज के संपर्क में आया। महर्षि दयानंदजी सरस्वती की विचारधारा ने मेरे मस्तिष्क को खूब झकझोरा। विश्वास और अंधविश्वास, श्रद्धा और अंधश्रद्धा, भक्ति और अंधभक्ति का भेद समझ में आने लगा। सुनी और पढ़ी हुई हर बात को अंधेपन में न मान कर तर्क के तराजू पर तोलने और बुद्धि की कसौटी पर कस कर देखने की मेधाशक्ति जागी। मैं धन्य हुआ।

जीवन के तीसरे दशक में स्वाध्याय का अपूर्व अवसर मिला। सूर, तुलसी, मीरा आदि की सरस रचनाओं ने सगुण साकार की भक्ति के बिरवे को खूब सींचा। इसके साथ-साथ कबीर, नानक, दादू आदि संतों की ज्ञानभरी वाणी की गगरियों ने सागर की-सी गंभीरता दी। बहुत प्रभावित हुआ। उन्हीं दिनों गीता तथा कुछ एक प्रमुख उपनिषदों के गंभीर अध्ययन का भी मौका मिला। भारतीय अध्यात्म के क्षितिज-स्पर्शी विस्तार ने विस्मय-विमुग्ध कर दिया। स्थितप्रज्ञता की अवस्था प्राप्त कर वीतराग, वीतभय, वीतक्रोध बनने तथा अनासक्त और समत्वबुद्धि की उपलब्धि जीवन का चरम आदर्श बन गयी।

यों तीसरा दशक बीतते-बीतते ही मेरे सौभाग्य की बुलंदी आसमान छूने लगी। किसी असह्य पीड़ाजनक असाध्य रोग के कारण भगवान बुद्ध की पावन परंपरा से संपर्क हुआ। १९५५ में ३१ वर्ष की अवस्था में बरमा के गृही संत परम पूज्य गुरुदेव सयाजी ऊ बा खिन के चरणों में बैठ कर भारत की अत्यंत पुरातन भगवती विपश्यना विद्या सीखी। शारीरिक रोग से मुक्त हुआ, लेकिन यह तो अब साधारण-सी बात लगी। जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हुई वह यह कि भवरोग से मुक्त होने की संजीवनी मिल गयी। भवसंसरण से छुटकारा पाने के लिए ऋजुमार्ग मिल गया। जीवन के तीसरे दशक में गीता और उपनिषद का अध्ययन करते हुए जिन आदर्शों को जीवन का लक्ष्य बनाया उन्हें हस्तगत करने की एक सहज विधा मिली। सुखशांतिमय जीवन जीने की अद्भुत कला मिली।

बचपन में भक्तिरसवाहिनी में डुबकी लगाते हुए जो कुछ पढ़ा-सुना वह श्रुतज्ञान था। आर्यसमाज से और गीता तथा उपनिषदों से जो कुछ समझा वह चिंतनज्ञान था। पर अब विपश्यना के संपर्क में आने पर जो कुछ प्राप्त हुआ वह अनुभूतिजन्य ज्ञान था। पहला और दूसरा परोक्ष ज्ञान था और अब जो प्राप्त हुआ वह प्रत्यक्ष ज्ञान था, याने यही सही माने में प्रज्ञा थी। पहले और दूसरे से जो कुछ प्राप्त हुआ उसने ऊंचे अध्यात्म की धर्मकामना जगायी, जो इस तीसरे सोपान में पूर्णता की ओर अग्रसर होने का राजमार्ग प्रशस्त करने लगी।

बहुत कम उम्र में ही भौतिक जीवन की आशातीत सफलताओं ने मानस में तीव्र अहंभाव भर दिया था, जिसके कारण राग, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध आदि विकारों से आकुल-व्याकुल और त्रस्त-संत्रस्त रहने लगा था। भक्ति के भावावेश में कुछ देर मन शांत रहता परंतु फिर अशांत हो उठता। ज्ञानभरे चिंतन-मनन से मन में कुछ स्थिरता जागती, परंतु अल्पकाल में ही फिर विचलित हो जाता। विपश्यना विद्या का अभ्यास करते हुए मन को जड़ों तक विकार-विमुक्त करने का कल्याणकारी साधन उपलब्ध हुआ। विकारों के उद्गम, संवर्धन और संचयन का क्रम स्वानुभूति के स्तर पर खूब समझ में आने लगा और साथ-साथ उनके दमन और शमन, निष्कासन और निर्मूलन की विधा भी स्पष्ट हुई। पुरातन भारत के परम परिशुद्ध धर्म के इस प्रयोगात्मक व्यवहारिक पक्ष के दैनिक अभ्यास द्वारा जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन होने लगा।

किसी एक मध्यकालीन मान्यता के कारण अनेक भारतीयों के मन में भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा के प्रति भ्रांतियां हैं। मैं भी उन भ्रम-भ्रांतियों का शिकार था। इसीलिए विपश्यना के पहले शिविर में सम्मिलित होते हुए मन में जरा झिझक थी। परंतु दस दिन के प्रथम शिविर में ही यह देख कर अत्यंत सुखद आश्चर्य हुआ कि जो कुछ सीखा, उसमें रंचमात्र भी दोष नहीं है। विरोध का कोई कारण नहीं नजर आया। सदाचार का जीवन जीने में, चित्त को सत्यानुभूति के आधार पर समाधिस्थ कर लेने में, आत्मदर्शन करते हुए तन और मन के पारस्परिक संबंधों के बारे में जो-जो सत्य प्रकट हों, उनका अनुभूतिजन्य विश्लेषणात्मक अध्ययन करते हुए विकारों की जड़ें उखाड़ने वाली ऋतंभरा प्रज्ञा जाग्रत कर लेने में, और निर्मल हुए चित्त को मैत्री, करुणा और सद्भावना से भर लेने में भला किसी को क्या एतराज हो सकता है? मुझे भी क्या एतराज होता? बल्कि यों लगा जैसे अतीतकालीन भारत के विशुद्ध धर्म का सत्य स्वरूप समझ में आ गया। धर्म का सार मिल गया, नवनीत मिल गया। ऐसी आशुफलदायिनी अध्यात्म विद्या का रस चख कर मन में यह दुखद आश्चर्य भी हुआ कि अध्यात्मपरायण भारत ने यह कल्याणी विद्या क्यों खो दी?

जब इस अद्भुत विद्या के अभ्यास से सच्चाई की गहराइयां

अनुभूति पर उतरने लगीं तब मन में एक धर्मसंवेग जागा कि जो भगवान बुद्ध की अपनी मातृभाषा थी और जो उत्तर भारत की प्राचीन प्राकृत जनभाषा थी, जिसने भगवान की वाणी को पाल-संभाल कर रखा और इसलिए पालि कहलाई, उसका अध्ययन करना चाहिए। मुझे पालि का जरा भी ज्ञान नहीं था। लेकिन संस्कृत और हिंदी के आधार पर उसे समझ सकने लायक क्षमता प्राप्त होने लगी। मैं इस अमृत वाणी का रसास्वादन करने लगा। पढ़ते हुए बहुधा मन आह्लाद-प्रह्लाद से भर उठता। विपश्यना विद्या की गहराइयां स्पष्ट से स्पष्टतर होती चली गयी। एक ओर विपश्यना का व्यावहारिक प्रयोग और दूसरी ओर भगवान की अमृत वाणी में उपलब्ध उसका सैद्धांतिक पक्ष, ये दोनों एक-दूसरे को बल प्रदान करने लगे। हृदय धन्यता से भर उठा।

***

परम पूज्य गुरुदेव के मन में भारत के प्रति अतुल स्नेह था। उनका हृदय भारत के प्रति असीम कृतज्ञता के भावों से सदैव भरा रहता था। वे बार-बार कहा करते थे कि हमें भारत से यह अनमोल रत्न प्राप्त हुआ। हम धन्य हुए! दुर्भाग्य से अब भारत में यह विद्या लुप्त हो चुकी है। हमें भारत का यह ऋण चुकाना है। भारत इसे प्राप्त करेगा तो जाति-पांति, छूआ-छूत, ऊंच-नीच के भेद-प्रभेदों के कारण, संप्रदाय-संप्रदाय के विग्रह-विवादों के कारण वहां जो जनसंताप फैला हुआ है, वह शांत होगा। उस महान देश में पुनः सार्वजनीन सनातन धर्म की पावन गंगा प्रवाहमान होगी। वहां के देशवासियों का प्रभूत कल्याण होगा।

उनको इस प्राचीन भविष्यवाणी पर पूरा विश्वास था जिसमें यह कहा गया था कि तथागत के २५०० वर्ष के बाद भारत में लुप्त हुई यह अध्यात्म विद्या पुनः घर लौटेगी और भारत का जनमानस इसे सहर्ष स्वीकारेगा, जिससे अत्यंत जनकल्याण होगा। यह विद्या भारत से फिर एक बार सारे विश्व में फैलेगी और अनेकों का कल्याण करेगी। वे बार-बार कहते थे कि अब विपश्यना का डंका बज चुका है। हमें भारत के ऋण से उऋण होना है। वे स्वयं यहां आकर विपश्यना के माध्यम से भारत की धर्मसेवा किया चाहते थे और भारत का ऋण चुकाना चाहते थे परंतु किन्हीं कारणों से नहीं आ पाए। १९६९ में जब मेरा भारत आने का संयोग बना तो वे अत्यंत प्रसन्न हुए। उन्होंने मुझे आचार्य पद पर अभिषिक्त कर अपने प्रतिनिधि के रूप में भारत के लोगों को विपश्यना का अनमोल रत्न लौटाने का दायित्व दिया। १४ वर्षों तक उनके सान्निध्य में इस गहन विद्या को जितना भी हृदयङ्गम कर सका, उसे मैं इस महान दायित्व के लिए पर्याप्त नहीं समझता था। इसलिए झिझक थी। परंतु अंततः उनके द्वारा विपुल प्रोत्साहन दिए जाने पर भारत आकर उनकी प्रबल धर्म कामना पूरी करने का उत्तरदायित्व स्वीकार किया।

मैं भारत के लिए अपरिचित था। भारत में अपने परिवार के कुछएक सदस्यों को छोड़ कर हिंदी के उन इने-गिने साहित्यकारों से ही परिचित था जो कि बरमा में हिंदी के प्रचार-प्रसार के कार्य हेतु वहां आकर हमारा हाथ बँटाते थे। इतने बड़े विशाल देश में विपश्यना के शिविर कैसे लगेंगे, कौन सम्मिलित होंगे, कौन प्रबंध करेंगे? कैसे आवश्यक सुविधाएं जुट पायेंगी? ये सारे प्रश्न मुँह बाए सामने खड़े थे परंतु यह देख कर आश्चर्य हुआ कि भारत आने के एक महीने के भीतर ही पहला विपश्यना शिविर लगा। हृदय प्रसन्नता से उर्मिल हो उठा। लगभग २००० वर्षों के लंबे अंतराल के बाद भारत की अत्यंत पुरातन सनातन विद्या का स्वदेश में पुनरागमन हुआ। पहले ही शिविर की सफलता से यह धर्म गंगोत्री पुनः प्रवहमान हो उठी। भविष्यवक्ता की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। पिछले तीस वर्षों में भारत के विभिन्न वर्गों के, संप्रदायों के, परंपराओं के लोग इसे स्वीकार कर इसका लाभ उठाने लगे। प्रथम दस वर्षों तक विपश्यना भारत की उर्वरा भूमि को ही धर्मरस से सींचती रही, तदनंतर विदेशों में भी प्रवाहित होने लगी।

भारत के अनेक प्रबुद्ध लोग इस विद्या से सहर्ष जुड़ गये। जैसे इस अनमोल रत्न को पाकर कभी मेरे मन में मूल भाषा में भगवान की वाणी का अध्ययन करने का धर्मसंवेग जागा था, वैसे ही अब यहां भी अनेकों के मन में जागा। अतः भारत के पुरातन पालि साहित्य की खोयी हुई विपुल संपदा पुनः प्रकाशित करने का काम आरंभ हुआ। परंतु अपने जीवन की जिम्मेदारियों में व्यस्त लोगों के लिए विधिवत पालि भाषा सीखने के लिए समय निकाल पाना आसान नहीं है। फिर भी पालि भाषा संस्कृत और हिंदी के इतनी समीप है कि व्याकरण का पर्याप्त ज्ञान नहीं होने पर भी जिसका पालि शब्दकोष समृद्ध हो जाय, उसे यह सहज ही समझ में आने लगती है। यही सोच कर मेरे मन में यह शिव-संकल्प जागा कि 'बुद्धसहस्सनाम' की रचना करूं, जिससे साधकों को भगवान के अनेक गुणवाचक पालि शब्दों की जानकारी तो हो ही, साथ-साथ इसके पठन से बुद्धानुस्मृति द्वारा भगवान के प्रति कृतज्ञता के भाव जागें और फलतः मानस में जो पुलक और शरीर में जो रोमांच हो, उससे विपश्यना साधना के अभ्यास को बल मिले।

हिंदी और राजस्थानी में पदरचना करने वाली मेरी सृजन धर्मिता भी जागी और उसके साथ जागा पालि में पदरचना करने का धर्मसंवेग। पालि व्याकरण का ज्ञान पूर्ण न होने पर भी मैं इन पदों की रचना में लग गया। एक हजार नामों को पद्यवद्ध करने का संकल्प लेकर चला था। इसके लिए लगभग २०० पद पर्याप्त होते। परंतु तथागत के गुणों का कोई परिमाण नहीं। "अप्पमाणो बुद्धो"। श्रद्धाविभोर हृदय से पदों की रचना होती गयी और १२५० पद तैयार हो गये। इसके बाद भी जो शब्द-संग्रह बचा उससे इतने ही पदों की रचना और की जा सकती थी। परंतु अन्य अनेक जिम्मेदारियों के कारण न चाहते हुए भी लेखनी पर रोक लगानी पड़ी और इसे नाम दिया – "बुद्धगुणगाथावली"। उन्हीं पदों में से ये थोड़े से पद चुन कर "बुद्धसहस्सनामावली" का संकलन किया ताकि अक्टूबर १९९८ के बुद्धमहोत्सव पर इसके प्रसारण का शुभारंभ हो सके।

जिन्हें भगवान की मातृभाषा और २६०० वर्ष पूर्व के उत्तर भारत की जनभाषा पालि के अध्ययन में रुचि है, उन्हें इससे प्रचुर लाभ मिलेगा। परंतु एक बड़ा खतरा भी नजर आ रहा है जिसके प्रति सतत सजग रहना आवश्यक है। भविष्य में इस सहस्सनामावली का पाठ कहीं कोई निर्जीव निष्प्राण कर्मकांडबन कर न रह जाय। आगे चल कर कहीं यह गलत धारणा न फैलने लगे

कि इसके पाठ से अनेक जन्मों के पाप कटते हैं। ऐसा होने पर, पूर्व संगृहित कर्मसंस्कारोंको वैज्ञानिक ढंग से नष्ट करनेवाली विपश्यना का अभ्यास गौण हो जायगा और लोग इस मिथ्या मान्यता के जंजाल में उलझ कर रह जायेंगे। जैसे कि अन्य अनेक धार्मिक परंपराएं समय पाकर दूषित हो जाती हैं, कहीं इसका भी वैसे ही पतन न हो जाय। वर्तमान और भविष्य के सभी साधक साधिकाओं को इस खतरे के प्रति सजग रहना आवश्यक है।

तथागत की धर्मवाणी उन्हें सदा सचेत करती रहे। बुद्धों की सही वंदना किस प्रकार की जाती है इसे वे सतत ध्यान में रखें---

"इमाय धम्मानुधम्म पटिपत्तिया बुद्धं पूजेमि।"

यानी धर्मानुधर्म के प्रतिपादन द्वारा ही मैं बुद्ध का पूजन करता हूं।

शील समाधि और प्रज्ञा को जीवन में उतारना ही धर्मानुधर्म का प्रतिपादन है और यही बुद्ध की सही पूजा है। इस समझबूझ को सबल बनाए रखना होगा।

किसीके द्वारा पूछे जाने पर भगवान ने स्पष्ट शब्दों में बताया कि बुद्धों की सही वंदना कैसे होती है---

आरद्ध विरिये पहितत्ते, निच्चं दळ्ह परक्कमे।
समग्गे सावके पस्स, एतं बुद्धान वन्दनं॥

– देखो! ये श्रावक किस प्रकार एकत्र होकर समग्र रूप से साधना में निरत हैं। चित्त-शुद्धि के लिए नित्य दृढ़ पराक्रमक रते रहते हैं। सचमुच यही है बुद्धों की वंदना।

भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के कुछ ही समय पूर्व जब उन पर दिव्य पुष्पवर्षा हुई तब भी उन्होंने इसी तथ्य को बहुत साफ शब्दों में दुहराया –

"न खो आनन्द! एत्तावता तथागतो सक्कतो वा होति, गरुकतो वा, मानितो वा पूजितो वा, अपचितो वा।

– "आनंद! इस प्रकार तथागत सत्कृत, गुरुकृत, मानित, पूजित नहीं होते।

यो खो आनन्द! भिक्खु वा भिक्खुनी वा उपासको वा उपासिका वा धम्मानुधम्मप्पटिपन्नो विहरति सामिचिप्पटिपन्नो अनुधम्मचारी, सो तथागतं सक्करोति गरुकरोति मानेति पूजेति अपचियति परमाय पूजाय। ...

(बल्कि) आनंद! कोई भिक्षु या भिक्षुणी, उपासक या उपासिका परम पूजन के लिए धर्म के मार्ग पर आरूढ़ हो विहरता है, यथार्थ मार्ग पर आरूढ़ हो धर्मानुसार आचरण करने वाला होता है तब तथागत उससे सत्कृत, गुरुकृत, मानित, पूजित होते हैं।

एवं हि वो आनन्द! सिक्खतब्बन्ति।"

– ऐ आनंद! तुम्हें यही सीखना चाहिए।

बुद्धों की सही वंदना शील पालन करने से होती है, समाधि का अभ्यास करने से होती है और प्रज्ञा जाग्रत करके सजग सचेत हो समता में स्थित रहने से होती है।

वंदना संबंधी भगवान की यह वाणी सभी साधकों और अन्यान्य पाठकों के मानस में सदा गूंजती रहे और वे भलीभांति समझते रहें कि इन पदों के पाठ से हम अपने मन में प्रेरणा जगाएं कि जिन-जिन दुर्गुणों से सर्वथा विमुक्त होकर और जिन-जिन सद्गुणों से पूर्णतया संपन्न होकर बुद्ध बुद्ध बने, हम भी उस आदर्श को सामने रखते हुए कदम-कदम शील, समाधि, प्रज्ञा के धर्मपथ पर चलते रहेंगे और सभी दुर्गुणों को दूर करने और सद्गुणों का संपादन करने के पुण्यकार्य में सन्नद्ध रहेंगे। मानवी मानस के सभी संतापों को सर्वथा निर्मूल कर सकने की क्षमता रखने वाली इस विपश्यना विद्या को थोथे कर्मकांडोंसे दूर रखेंगे। इसे यथाशक्ति धारण कर लाभान्वित होते रहेंगे।

यह धर्मचेतना बनी रहेगी तो सचमुच बड़ा मंगल होगा, बड़ा कल्याण होगा।

कल्याणमित्र,
सत्यनारायण गोयन्का

(**'बुद्धसहस्सनामावली'** को नागरी लिपि के अतिरिक्त अन्य छह लिपियों – बर्मी, थाई, कम्बोडियन, मंगोलियन, सिंहली तथा रोमन लिपि में प्रकाशित किया गया है। इसी प्रकार **'बुद्धगुणगाथावली'** भी शब्द-सूची सहित इन सातों लिपियों में छप रही है जो कि शीघ्र ही पाठकों को उपलब्ध हो सकेगी।)

मृत्यु-मंगल; एक अभूतपूर्व अनुभव

बेतूल (म.प्र.) से सहायक आचार्य श्री राम अवध वर्मा अपनी वृद्धा मां की अद्भुत मृत्यु का विवरण ऐसे मार्मिक ढ़ंग से लिख भेजा है, जिसकी सब स्पृहा ही करेंगे परंतु स्थानाभाव के कारण यहां लिख पाना संभव नहीं है। संक्षिप्त में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह एक ऐसी धीर, गंभीर, सहनशील, दानी और कर्मठ साधिका थी जो अंतिम क्षण तक साधना करती हुई, सजग, सचेत और चमत्कृत आंखों से धर्मप्राण परिवार को निहार कर, सदा के लिए आंखें मूंद ली। विपश्यना मिलने के पश्चात पिछले दस वर्षों से सतत मैत्रीपूर्ण धर्माचरण में ही रत रही। लगभग ९५ वर्ष की पकी हुई अवस्था में शरीर से जीर्ण-शीर्ण होते हुए भी मृत्यु के पश्चात चेहरे पर एक अपूर्व आभा व्याप्त थी। साधिका का मनुष्य जीवन सार्थक हुआ, मृत्यु महामंगलदायिनी सिद्ध हुई। ऐसी मृत्यु की सचमुच देवता भी स्पृहा करेंगे। धर्माचरण से यह सब को प्राप्त हो सकती है।

** महासमुन्द, रायपुर (म.प्र.) से ब्रह्मानंद गोयल लिखते हैं, "विजेपुर (उड़ीसा) के साधक जितेंद्रिय पाणिग्रही ने विपश्यना के दो शिविर पूरे किए थे और तन्मयतापूर्वक ध्यान में रत था। रात में लगभग डेढ़ बजे उसे किसी सर्प ने काट खाया। सुबह डॉक्टरों ने जांच करने पर पाया कि विष सारे शरीर में व्याप्त हो चुका है। हर संभव प्रयास के बावजूद लगभग ९ बजे उसकी मृत्यु हो गयी परंतु चेहरा फिर भी शांत था।... धर्म का ही प्रभाव कि ऐसी मरणांतक पीड़ा को भी कितने धैर्यपूर्वक सहन किया।"